MAH MUL/03051/2012 ISSN: 2319 9318 | UGC Approved Sr.No. 62759 | Vidywarta® | February 2018 Special Issue | 0124

27

भारतीय संत काव्य का ऐतिहासिक और सामाजिक परिदृश्य

प्रा. बहिरम देवेंद्र मगनभाई
एम.जे.एस.कॉलेज, श्रीगोंदा
ता.श्रीगोंदा जि.अहमदगनर
भ्रमणध्वनी :– 9545104957
Email:- bahiram241@gmail.com

भारतीय जन–मानस को बाज़ारवाद, वैश्वीकरण का पूर्णरुप से आकर्षित किया है। उपभोक्तावादी समाज में नैतिकमूल्यों की आवश्यकता का आभास होने लगा हैं। आज विश्वस्तर पर मनुष्य एक दूसरे से जूड गया हैं। बाजारवादी दृष्टिकोण के कारण मनुष्य के यह संबंध व्यवसायिक हैं। आधुनिक सभ्यता में अमानवीय यांत्रिकता शासन करने लगी हैं। भारतीय लोकतंत्र जिसकी बुनियाद पर टिका हुआ है, वह है भारतीय संतो के विचार और उनके मानवी मूल्य। जिस प्रकार भक्ति आंदोलन बिखरे मोतीयों के समान विलगता से भक्ति के एक सूत्र में धीरे धीरे पिरोकर जनमानस के जीवन में बस गया। लोकमंगल की भावना से प्रेरीत संत काव्य की उपादेयता वर्तमान के भोगवादीता युग में अधिक तीव्र होती हैं। भारतीय संविधान में जिन मूल्यों को समाहित किया हैं, उनकी पृष्ठभुमि भारतीय संत परंपराने तैयार की हैं। भारतीय जनता में संविधान का स्विकार करने की मानसिकता तैयार करने का काम संतोने किया हैं। भारतीय संत काव्य उपादेयता इसी बात में हैं कि, वह मानव अधिकार की रक्षा करता हैं । समता, बंधुता, धर्मनिरपेक्षता आदि संवैधानिक तत्व भारतीय जनमानस के भीतर बसने का श्रेय हमें भारतीय संत परंपरा को देना होगा।

बुद्धिवादी सामाजशास्त्रीओं का मत हैं कि, भारतीय संविधान में जो तत्व या मूलभुत अधिकार समाहित किये गये हैं, वह विभिन्न देशों के संविधान या शासननीति से लिए गये हैं। इस तर्क को हम पुर्णरूप से सही नही मान सकते हैं, क्योंकि भारतीय संतो ने विभिन्न धर्म, जाति, वर्ण से जन्म लिया और वेदना को भोगकर उसके विरोध का स्वर तीव्र किया हैं। भारतीय संतोने जनजागरण द्वारा नैतिक मूल्यों को जिंदा रखा हैं। यह बात सच हैं कि, ''अनेक धर्मो से उठकर इन संतो ने मानव–मूल्यों की प्रतिष्ठा की हैं जो बिना किसी तर्कवाद या सिद्धांतवाद के व्यापक रूप से मानवीय अनुभूति से जुड़े हुए हैं । यह ठोस मूल्य एक ऐसी सशक्त पीठीका का निर्माण करते हैं जिसपर अव्यवस्थित हो मानव सारे संसार के साथ अपनत्व और भाई–चारे के सूत्र में बंध जाता हैं।''[१]

"जस जंती भहि जीव समाना। मुये मर्म को काकर जाना"
संसा सरवर काल सरीर। राम रसाइन पीउरे कबीर"[२]

भारतीय संत परंपरा का आरंभ मुख्य रूप में ११वी सदी से आरंभ होती हैं। संत ज्ञानेश्वर, कबीर, संत नामदेव, नानक, सूरदास, रैदास, तुलसीदास, मीराबाई, मलूकदास, दादूदयाल, संत तुकाराम, संत एकनाथ, संत जनाबाई, निवृत्तिनाथ, संत सुंदरदास, संत चोखामेळा, संत सावतामाळी, संत तुकडोजी महाराज आदी हिंदी और मराठी भाषा के संतो की वाणी से पुरा भारतवर्ष प्रभावित हुआ हैं। मुख्य रूप से हिंदू और मुस्लिम संस्कृति मिलन संक्रमण काल में हिंदी संतोंने उत्तर भारत में समाज को एकता का मार्ग दिखाया। मराठी संतो ने संस्कृत भाषा से जनभाषा में गीता का संदेश मराठी जनभाषा में सरल रूप में कहा हैं। सगुण और निर्गुण संतोंने

अपने काव्य के द्वारा मूल्यशिक्षा के बीज़ बो दिये। यह सच हैं कि,''धर्म रूढ़ीवाद नहीं, अंधविश्वास नहीं, अपितु यह तो श्रेष्ठ उच्चतर जीवन मूल्यों की समस्टि हैं, जिसमें हमारे विविध नैतिक सांस्कृतिक मूल्य समाहित हैं। आत्मा की समता यही धर्म का केंद्रीय मूल्य हैं। सभी संत सर्जकों का यही तात्पर्य हैं।''[३]

दक्षिण में भक्ति परंपरा का इतिहास देखा जाए तो वैष्णव भक्ति--प्रदत्त सामाजिक स्तर पर समन्वय भी इसी समय और इन्हीं आलवार संतों तथा आचार्यों की ही महत्वपूर्ण देन है। वैष्णव तत्व चिन्तन ने नीची कही जाने वाली जातियों को समादृत किया। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने जांति--पांति की जटिल समस्या का, भक्ति सम्मत व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत किया। आगे इसी परम्परा में स्वामी रामानंद ने 'जाति पांति पूछै नहिं, कोई हरि को भजै सो हरि का होई'[४] का उद्घोष किया। मुख्यत: भक्ति के इन्हीं प्रतिपादक आचार्यों के कारण ही 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' के रूप में भक्ति का उद्गम दक्षिण से माना जाता है। भक्ति का यही स्वरूप मध्यकाल में दिखाई देता है। विभिन्न जातियों में जन्मे दक्षिण में आलवार भक्तों द्वारा प्रसारित भक्ति चेतना को इन आचार्यों ने प्रेम, उदारता, करूणा, विनम्रता और सौहार्द आदि भावों के साथ जीवन के धरातल पर मुखरित किया उसी के परिणाम स्वरूप मानवीय समता--समानता के विचार को व्यावहाकिरता मिली।[५] यही मानवीय समता उत्तर में भक्ति चेतना का भी आधार बनी। दक्षिण के सामाजिक परिवेश में इस चेतना के बीज आठवीं से ग्यारहवीं--बारहवीं शती तक रची गई चर्या--गीतियों, नाथ--वाणी तथा शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि के सिद्धांतों में विद्यमान थे।[६] दक्षिण के सामाजिक परिवेश में ही अंकुरित पल्लवित होकर भक्ति का यह पौधा निरन्तर विकसित होकर उत्तर तक व्याप्त विकास पा गया। लेकिन इसको उत्तर तक पहुंचने में लगभग सौ वर्ष लगे।[७] भक्ति चेतना के इस प्रसार को एक सीमा तक दक्षिण की राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने भी प्रोत्साहित किया। एक ही समय में उत्तर और दक्षिण दोनों ही क्षेत्रों में समान परिस्थितियां नहीं थीं। दक्षिण का वह वातावरण उत्तर भारत में अपने परिपक्वता में शताब्दी बाद दिखाई देता है। अत: भक्ति की वह चेतना जो दक्षिण में फैल रही थी और जो मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन का आधार बनी, उसके मूल में दक्षिण की राजनैतिक सामाजिक परिस्थितियां कारक रूप में विद्यमान थीं। राजनैतिक दृष्टिकोण से गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ विध्वंस हुई राजशक्ति को नृपति 'हर्षवर्धन' ने पुन: सुदृढ़ किया। समस्त उत्तर भारत को उसने एक केन्द्रीय सत्ता प्रदान की। हर्ष की मृत्यु सन् ६४३ ई० में हुई और भारतीय इतिहास में यह युगान्तर सिद्ध हुआ। दक्षिण भारत पर हर्षवर्धन का अधिकार नहीं था और इसके अभाव में दक्षिणावर्त के नृपति स्वतंत्र रहे। छठी शताब्दी के अंत में पल्लवों का विशेष उत्कर्ष बढ़ा और 'काँची' को इन्होंने अपना केन्द्र बनाया। पल्लवों और चालुक्यों में शीघ्र ही संघर्ष प्रारम्भ हुआ और पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लवों को परास्त किया। पुलकेशिन द्वितीय दक्षिण भारत में हर्ष का समर्थ विरोधी था। दोनों ही विंध्य के दोनों ओर अपनी शक्ति के प्रसार में संग्लन रहे। नर्मदा पर दोनों की सीमाएं टकराई और हर्ष की श्री पराभूत हो गई। पल्लवों ने थोड़े समय के लिए चालुक्यों की राजधानी 'वातापी' पर अधिकार कर लिया किंतु यह अधिकार क्षणिक ही रहा और पुलकेशिन द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य ने पल्लवों से काँची को छीन लिया। चालुक्यो की दो और शाखाएं थीं वेंगी और कल्याण। इनका अधिकार क्षेत्र आंध्रदेश और कलिंग के एक भाग की भूमि पर रहा। सन् १०७० ई० में राजेन्द्र चौड़ द्वितीय के कारण पूर्वी चालुक्य और चौड़ दोनों कुल मिलकर एक हो गए। इस मिश्रित कुल का शासन दो सदियों तक चलता रहा। कल्याण के चालुक्यों का प्रारम्भ राष्ट्रकूटों के सामन्त नृपति के रूप में हुआ था। परमारों ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट पर आक्रमण कर उसे नष्ट भ्रष्ट कर दिया। उत्क्रांत परिस्थिति से लाभ उठाकर

तैलप ने स्वतंत्रता उद्घोषित की और स्वतंत्र राजकुल की स्थापना हुई। मान्यखेट के राष्ट्रकूटों का प्रताप 'दन्तिदुर्ग' के काल में प्रारम्भ हुआ, जिसने आठवीं शती के मध्य में महाराष्ट्र से चालुक्य शक्ति को नष्ट कर दिया। काँची, कोशल, कलिंग, मालवा आदि के नृपतियों को उसने परास्त किया। राष्ट्रकूटों का शासन लगभग ढाई सौ वर्षों तक स्थापित रहा। राष्ट्रकूट प्रतापी शासके थे जिनकी गणना संसार के चार सर्वशक्तिमान राजाओं में की जाती है।[८] दक्षिणावर्त्त ने छोटे–छोटे राज्यों में देवगिरि ने यादव, वारंगल के काकतीय, कोंकण के शिलाहार, द्वारसमुद्र के घेमसल आदि परिगणित हैं। सन् १२९४ ई० में अलाउद्दीन ने देवगिरि के राजा रामचन्द्र से छलपूर्वक शरण ली और फिर उसी पर आक्रमण किया, अन्ततः विवश होकर रामचन्द्र ने उससे संधि कर ली। रामचन्द्र के समय में ही सन् १२९० ई० में सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी टीका भी लिखी। इस प्रकार पल्लव, चौड़, चेर और पाड्य राजाओं का एक लम्बे समय तक उत्थान–पतन होता रहा। सारतः अलाउद्दीन के आगमन से पूर्व दक्षिण भारत प्रायः स्वतंत्र रहा। सन् १३९५ में अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान बना। उसने उत्तरी भारत में मुस्लिम सत्ता की प्रतिष्ठा स्थापित की। इस प्रतिष्ठा का आभास दक्षिण के हिन्दू राजाओं को भी हुआ। देवगिरि के 'यादव' और वारंगल के 'काकतीय' राजा मलिक काफूर' से १३०७ ई० में पराजित हो गए। सन् १३१२ ई० तक देवगिरि पर पूर्ण रूप से मुस्लिम सत्ता स्थापित हो गई। दक्षिण भारत के इस महत्वपूर्ण इतिहास का भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि में स्पष्ट महत्व है। भक्ति का उद्भव दक्षिण में हुआ जहां मुस्लिम प्रभाव अलाउद्दीन के समय में दिखाई पड़ता है। उससे पूर्व दक्षिण भारत मुस्लिम आक्रमणों से मुक्त रहा। दक्षिण में हिन्दू नरेशों का स्वतंत्र तथा प्रायः शांतिपूर्ण शासन स्थापित रहा जिसमें हिन्दू धर्म तथा भक्ति ने पर्याप्त समर्थन प्राप्त किया। दक्षिण के इस अनुकूल वातावरण ने भक्ति चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया जिसके मूल में सामाजिक स्वर भी सुनाई देते हैं। दक्षिण भारत की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियां इस भक्ति चेतना के प्रसार के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।दक्षिण भारत में पहली शताब्दी के बाद कई शताब्दियों तक राज्य सत्ता अनेक पराक्रमी शासकों के हाथ में रही। चोलवंशी शासक 'करिकाल' के समय में कावेरी नदी के जल को नियंत्रित करके सिंचाई की व्यवस्था की गई। श्रीलंका के साथ युद्ध में पकड़े हुए बंदियों को लगाकर कावेरी के मुहाने पर 'पुहार' का प्रसिद्ध बंदरगाह निर्मित करवाया। इससे व्यापार और उद्योग की अभूतपूर्व उन्नति हुई और सर्वतोन्मुखी विकास संभव हुआ। कांचीपुरम पल्लवों की राजधानी थी। सातवीं शताब्दी के अन्तिम और आठवीं शताब्दी के आरम्भ में पल्लव शासक नरसिंहवर्मन ने 'स्थापत्य' को अधिक बढ़ावा दिया, उसने कांची का प्रसिद्ध 'राजसिंहेश्वर' मन्दिर बनवाया।[९] उसके समय में चित्रकला की बहुत उन्नति हुई। शिल्पियों का सम्मान बढ़ा और आर्थिक दशा मजबूत हुई। सामाजिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष था। मद्रास म्यूजियम के उत्तम चोल ताम्रपत्र के अनुसार कांचीपुरम के बुनकरों[१०] को स्थानीय मन्दिर की वित्तीय व्यवस्था का काम सौंप दिया गया था। इन बुनकरों को वैश्य व्यापारियों जैसा सम्मान मिला। समाज में हीन तथा निम्न समझे जाने वाली एक जाति को इतना उत्तरदायित्व तथा सम्मान प्रदान करना अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य है। इससे इस बात की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है कि उस निम्न जाति ने विभिन्न साधनों के माध्यम से समाज में अपनी प्रतिष्ठा को सुदृढ़ किया होगा। निस्संदेह इन साधनों में एक महत्वपूर्ण साधन आर्थिक भी रहा होगा। निम्न जातियों ने स्थापत्य कला के विकास में परिश्रम किया और परिणामस्वरूप उनकी आर्थिक दशा उन्नत होती गई। आर्थिक विकास के साथ–साथ इन निम्न समझी जाने वाली जातियों के सामाजिक विकास की संभावनाएं भी प्रबल हो जाती हैं। तत्कालीन परिवेश, परिस्थितियाँ, समय एवं समाज से दोनों

प्रभावित दिखाई देते हैं। यही कारण है कि उन्होंने तत्कालीन समाज को तथा उनकी मूलभूत समस्याओं, कमियो एवं खामियों को केंद्र में रखकर क्रांतिकारी कदम उठाए।

कबीर के दौर में अवतारवाद, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, छापा–तिलक आदि का बोलबाला था। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में अवतारवाद का कड़ा विरोध किया। उनकी दृष्टि में अवतार हो या पैगम्बर दोनों ही ईश्वर नहीं हैं। कबीर ने कहा कि संसार में दशरथ के पुत्र को 'राम' कहा जाता है, किन्तु 'राम' का मर्म ही दूसरा है। अर्थात कबीर के राम निर्गुण निराकार, अक्षर, अविनाशी इस संसार के सृजनकर्ता है।– 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।' उन्होंने राम का ही नहीं हिन्दुओं के अन्य अवतारों का भी खण्डन किया है तथा उस परमात्मा को अगम–अनामी रूप में मानकर घट–घट बासी बताया है। महाराष्ट्र के संतो में विद्रोह का भाव तीव्रता से संत तुकाराम के काव्य में दिखाई देता है। लेकिन पुर्णरूप से कबीर के समान निर्गुण हुए नहीं हैं। जो समाज से जुडने के लिए आवश्यक हैं। संत नामदेव तथा कबीर ने मिथ्या आडंबरों का प्रखरता से विरोध करके समाज परिवर्तन की नींव डाली। हिंदू तथा मुस्लिम धर्म में प्रचलित धार्मिक रीतिरिवाजों का पर्दाफाश करते हुए संत नामदेव ने लिखा है –''हिंदू ऊहा तुरकु काणा, दुहां ते गिआनी सिआना।@हिंदू पूजै देहुरा, मुसलमान मसीतु@नामे सोई सेविआ नह देहुरा न मसीति।''[१०] ईश्वर की सत्ता का नकारने का साहस कबीर ने किया हैं । सभी भारतीय संतोने सत्य, अहिंसा, दया, संतोष, परोपकार, माया का विरोध आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति करके समाजमन को जाग`त किया हैं। संत साहित्य में सामाजिक परिवर्तन के साथ ही स्थापित मुल्यों की रक्षा और नये मुल्यों को बल देता हैं।

संदर्भ ग्रंथ :–

१. डॉ. सुनीता अग्रवाल, मध्यकालीन संत साहित्य और मानवी मूल्य :– पृष्ठ क्र. ३६
२. कबीर ग्रंथावली, पारसनाथ तिवारी पृ–८४
३. डॉ. जीवन सांसीया,मध्यकालीन संत परम्परा एवं रैदास:– पृष्ठ क्र. ०३
जो सिअ संकर विण्हुसो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिशु ईसरु बंयु सो, सो आणंतु सो सिद्धु ।। – योगसार, १०५
४. सं० डॉ. पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ. ४९
५. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : संत साहित्य के प्रेरणा स्रोत, पृ. ७७
६. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ५८
७. रमेश चन्द्र मिश्र : संत साहित्य और समाज, पृ. १२७
८. भगवत् शरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. ३६२
९. संपा० विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ.६०
१०. गुरूग्रंथ साहिब, पृष्ठ–८७५